क्या हम अपने विद्यार्थियों के साथ न्याय कर रहे हैं?

स्कूली शिक्षा के हालातों की चर्चा तो हम सब करते ही रहते हैं, परन्तु उच्च शिक्षा की स्थिति उससे बहुत फर्क है क्या? इस सवाल की जांच पड़ताल करता है यह लेख।

शि सक्सना।

ग्यारह साल से ज़्यादा से, मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के दीनदयाल उपाध्याय कॉलेज में रसायन शास्त्र पढ़ा रही हूं। यहां मैं आपके साथ अपने अनुभव, अवलोकन और सबसे ज़रूरी – अपने सरोकार बांटना चाहती हूं।

मैंने पढ़ाने के प्रति अपनी चाहत के चलते अध्यापन को पेशे के रूप में चुना था। मुझे हमेशा से ही लगता रहा है कि जब आप अपने विद्यार्थियों को कुछ समझा पाते हैं तो उनके चेहरों पर जो उमंग छलकती है, उससे ज़्यादा अच्छा इनाम और कोई हो ही नहीं सकता। मुझे पढ़ाना अब भी पसन्द है और मैं अब भी लगातार ऐसे मौकों की तलाश में रहती हूं।

पर मुझे मानना पड़ेगा कि इस व्यवसाय की अपनी पीड़ा भी है। विज्ञान की शिक्षिका होने के नाते मुझे

प्रायोगिक (प्रेक्टिकल) कक्षाएं भी लेनी होती हैं, इन कक्षाओं में प्रत्येक विद्यार्थी के साथ अलग-अलग संपर्क करना संभव हो पाता है। यहीं हम उनकी व्यक्तिगत ताकतों और कमज़ोरियों को आंक सकते हैं। और यहीं हम इस बात का सही-सही जायज़ा ले सकते हैं कि वे दरअसल कितना सीख पा रहे हैं। पर साथ ही यही वे कक्षाएं हैं जिन्होंने मेरी कई रातों की नींदें उड़ाई हैं। अध्यापन के इन कई सालों के अनुभव ने मेरी आंखें खोल दी हैं। मुझे बार-बार यह एहसास हुआ है कि हमारे विद्यार्थियों का एक बड़ा वर्ग प्रयोग करने के लिए दिए गए निर्देश तक को या तो समझ ही नहीं पाता, या फिर बमुश्किल समझ पाता है। विद्यार्थियों के बड़े वर्ग से मेरा मतलब 60-65 प्रतिशत छात्र-छात्राओं से है। ये सभी ईमानदार व अनुशासित विद्यार्थी हैं जो पूरी मेहनत से वह सब समझने की कोशिश करते हैं जो उन्हें बताया जाता है। परन्तु यह भी साफ दिखाई देता है कि उन्हें प्रयोग करने के निर्देश समझने तक में काफी कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में यह मान लेना बहुत मुश्किल है कि वे उन प्रयोगों को समझ पाते होंगे जो वे करते हैं, इन प्रयोगों के ज़रिए किन्हीं अवधारणाओं को सीख पाते होंगे – जैसा कि किसी भी विज्ञान के पाठ्यक्रम में अपेक्षित होता है। मैं अक्सर यह सोचती हूं कि न जाने वे उन थ्योरी कक्षाओं में कितना समझ पाते होंगे जहां हम उन पर बेहद मुश्किल विषयों से भरा एक भारी-भरकम पाठ्यक्रम लाद देते हैं।

दोष किसका है?

क्या इन हालातों के लिए विद्यार्थियों को दोष दिया जा सकता है? मेरा जवाब है 'कतई नहीं'। अगर यह बात विद्यार्थियों के केवल एक छोटे प्रतिशत के लिए सही होती तो मैं आसानी से उन्हें दोषी ठहरा कर अपना पल्ला झाड़ लेती। परन्तु 60-65 प्रतिशत सचमुच एक बहुत बड़ी संख्या है और यह निश्चित ही हमारी शिक्षा व्यवस्था की एक भीषण 'असफलता' है। यह दुखद है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था हमारे इतने सारे बच्चों की संभावनाओं और क्षमताओं को बढ़ावा देने के बजाए उन्हें कुचल रही है।

मेरे कॉलेज में यह कैफियत दी जाती है कि ये वो छात्र-छात्राएं हैं जिन्हें बारहवीं में सिर्फ 55-60% नम्बर मिले थे, इसलिए यह कोई अचरज की बात नहीं कि उनका स्तर इतना नीचे है। पर कहानी यहां खत्म नहीं होती क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय के कई अन्य कॉलेज के शिक्षकों के अवलोकन भी इसी से मिलते जुलते हैं। ये वो कॉलेज हैं जहां कहीं बेहतर

नम्बर से बारहवीं पास विद्यार्थियों को ही दाखिला मिल पाता है। दिल्ली विश्वविद्यालय का विज्ञान शिक्षा एवं संचार केन्द्र (सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन एण्ड कम्युनिकेशन) हर साल 'क्वेस्ट' नाम से एक अन्तर महाविद्यालयीन प्रतियोगिता का आयोजन करता है। इस काफी प्रतिष्ठित प्रतियोगिता में अवधारणात्मक समझ और तार्किक रूप से सोच पाने की क्षमता को परखने पर ज़ोर दिया जाता है। इस प्रतियोगिता का संचालन करने वाले कॉलेज और विश्वविद्यालय के शिक्षक, अक्सर ऊंचे दर्जे के कॉलेज से आने वाले प्रतियोगियों तक के खराब प्रदर्शन की शिकायत करते हैं। यह सही है कि अपवाद मौजूद हैं, पर वे तो अपवाद ही हैं। यह वैसा ही है जैसा दिल्ली विश्वविद्यालय के एक शिक्षक अक्सर कहते हैं – कि वे चन्द लोग जो अपने अन्दर मौजूद संभावनाओं का विकास कर पाते हैं इस व्यवस्था की मदद से नहीं, इसके बावजूद ऐसा कर लेते हैं।

ये अनुभव मेरे सामने कुछ बुनियादी सवाल खड़ा कर देते हैं। क्या हमारे पढ़ाने के तरीकों में कोई बहुत गंभीर गड़बड़ी है? छात्रों के मूल्यांकन के हमारे तरीके कितने भरोसेमंद हैं? क्या हम अपने विद्यार्थियों के साथ न्याय कर रहे हैं? यहां मैं इनमें से दूसरे सवाल के बारे में अपने विचार बांटूंगी, हालांकि मुझे लगता है कि ये तीनों ही विषय आपस में जुड़े हुए हैं।

चलिए, मैं फिर से 'क्वेस्ट' के उदाहरण से शुरू करती हूं। इस प्रतियोगिता में हिस्सा लेने वाले विद्यार्थी अपने-अपने कॉलेज के सबसे बेहतर छात्र-छात्राओं में से होते हैं। इन्हें या तो बारहवीं में या स्नातक (डिग्री) की पढ़ाई के पहले या दूसरे साल की परीक्षा में काफी अच्छे नंबर मिले होते हैं। विभिन्न परीक्षाओं में उनके प्रदर्शन के चलते उनसे यह अपेक्षा होती है कि वे अपने विषय को अच्छी तरह जानते होंगे। पर ऐसा होता नहीं है। जब 'क्वेस्ट' जैसे मंच पर उनकी अवधारणात्मक समझ को परखा जाता है तो वे इतना अच्छा नहीं कर पाते हैं। इससे स्पष्ट रूप से यह ज़ाहिर होता है कि मूल्यांकन के हमारे तरीकों में गंभीर सीमाएं हैं। ये तरीके हमारे विद्यार्थियों की समझ के स्तर को आंकने में पूरी तरह से नाकाम हो रहे हैं।

सीमित सरोकारों का नतीजा

फिर भी, हमारे कॉलेजों में अगर विद्यार्थियों के प्रति कोई सरोकार है भी तो वह परीक्षा में उन्हें मिलने वाले नंबरों तक ही सीमित है। शिक्षक कभी इस बात की चर्चा नहीं करते कि कक्षा में छात्र-छात्राओं का रुख कैसा होता है। इस बात पर कभी कोई परेशानी ज़ाहिर नहीं की जाती कि

विद्यार्थी कक्षाओं में, अधिकतर, बुत की तरह बैठे बेजान तरीके से बस ग्रहण करते रहते हैं; कि कोई अवधारणा समझने पर या अवधारणाओं के बीच कोई रोचक जुड़ाव देख पाने पर, या फिर पढ़ाई का अपने रोज़ के जीवन से कोई रिश्ता जोड़ पाने पर शायद ही कोई चमक और खुशी विद्यार्थियों के चेहरों पर दिखाई देती है। शिक्षक इस बात की चर्चा भी नहीं करते कि बच्चे सवाल नहीं पूछते, कोई शंका नहीं बताते, कक्षा में पढ़ाते वक्त उनके द्वारा की गई गलतियों को भी नहीं पकड़ पाते। यह बात भी शिक्षकों को परेशान नहीं करती है कि विद्यार्थी कक्षा में ऐसे सवाल कम ही पूछते हैं जिनके जवाब उन्हें पता न हों, या जो उन्हें कम-से-कम कुछ देर के लिए फंसा दें, और इनके जवाब बताने के लिए उन्हें सोचना या पढ़ना पड़े। अगर विद्यार्थी प्रश्न नहीं पूछते हैं तो इसके दो कारण हो सकते हैं – या तो वे सब कुछ समझते हैं, या वे कुछ भी नहीं समझ पा रहे। पहला तो नामुमकिन है। तो क्या विद्यार्थी, जो कुछ उन्हें बताया जाता है, उसमें से बहुत कम ही समझ पाते हैं? अपनी एक कृति में आर. के. नारायण ने ठीक ही कहा है कि केवल अधूरी समझ से ही शंकाएं पैदा होती हैं।

यह सब कुछ शायद 'सामान्य' मान लिया जाता है। परन्तु यही सब तो सीखने की प्रक्रिया के संकेतक हैं। फिर भी ये शिक्षकों में किसी बेचैनी का कारण नहीं बनते। एक ही चिंता सताती है उन्हें, कि विद्यार्थियों को अच्छे नम्बर मिल रहे हैं या नहीं। यह चिन्ता तो सही ही है, और हो सकता है कि आप सवाल करें कि इस सरोकार में क्या बुराई है? मैं पुरज़ोर यह कहना चाहती हूं कि अगर 'एकमात्र' या 'प्रमुख' सरोकार यही हो, तो इसके गंभीर नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं।

परीक्षा से बंटाधार

जब एकमात्र सरोकार यही हो तो परीक्षा प्रणाली समूची कक्षा को ही नियंत्रित करने लगती है। शिक्षक चुनकर सिर्फ उन्हीं टॉपिक (प्रसंगों) पर ध्यान देते हैं जो परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। वो भी कुछ इस तरह से पढ़ाए जाते हैं कि विद्यार्थी परीक्षा में आसानी से इनसे निपट सकें। प्राथमिकता विद्यार्थियों को अवधारणा समझने में मदद करने की नहीं होती, जबकि किसी भी विषय को समझने के लिए यह निहायत ज़रूरी होता है। ऐसा करना तो समय की बरबादी माना जाता है क्योंकि परीक्षा में समझ को तो जांचा ही नहीं जाना होता। उदाहरण के लिए विद्यार्थी उष्मागतिकी (Thermodynamics) जैसे भौतिक विज्ञान के एक कठिन क्षेत्र की एकदम उथली समझ लेकर भी अच्छे नम्बर

पा सकते हैं। वे अच्छे नंबर पा भी लेते हैं, वह भी बगैर यह जाने कि वे इस विषय को बिल्कुल भी नहीं समझ पाए हैं।

इस तरह के विषयों के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन्हें कक्षाओं में वो महत्व नहीं दिया जाता जैसी कि विषय की मांग होती है। कक्षा में अधिकांश वही तरीके अपनाए जाते हैं जो बच्चों को परीक्षा के लिए तैयार कर सकें। मुझे डर है कि यह ठीक वही तरीका है जो निजी कोचिंग क्लासों में उपयोग में लाया जाता है।

इस परिस्थिति में शिक्षकों के लिए विद्यार्थियों को मुश्किल लगने वाली अवधारणाओं की ओर ध्यान देना गैर-ज़रूरी बन जाता है। कक्षा में पढ़ाने के नए तरीके खोजना, नई पद्धतियों की तलाश करना महत्वहीन हो जाता है। इनके बारे में शिक्षकों के बीच किसी भी तरह की चर्चा या विचारों का आदान-प्रदान नहीं होता है। मुझे लगता है कि इससे न सिर्फ विद्यार्थी इन मुश्किल अवधारणाओं को सीखने के मौके खो देते हैं, बल्कि ये शिक्षकों के अपने विकास के लिए भी बाधा बन जाते हैं।

बांटि जाओ अंक

मुझे तो बहुत तीव्रता से यह भी महसूस होता है कि अच्छे नम्बरों का यह नशा, अपनी तरह से मूल्यांकन प्रणाली पर भी असर डालता है। दिल्ली विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षा के प्रश्न पत्रों को गौर से देखने पर साफ दिखाई पड़ता है कि इनमें विद्यार्थियों में विषय की समझ या विश्लेषण की क्षमता पर बहुत महत्व नहीं दिया जाता है। छात्र-छात्राओं से मात्र जानकारी उगलने की अपेक्षा की जाती है। हो सकता है कि ऐसा सोच-समझकर न किया जा रहा हो। लेकिन शिक्षण के ये पैमाने हमें एक दुष्चक्र में फंसा देते हैं। इसमें पढ़ाने का उद्देश्य बेहतर समझ बनाना नहीं है क्योंकि परीक्षा में इसकी ज़रूरत नहीं है। दूसरी ओर मूल्यांकन प्रक्रिया में अवधारणात्मक समझ की कोई जांच नहीं की जाती है, क्योंकि हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे परिणाम पा सकें!

अच्छे नम्बरों की यह धुन कई बार हमें जान-बूझकर परीक्षा और मूल्यांकन को हल्का या सरल बनाने की ओर धकेल देती है। उदाहरण के लिए प्रायोगिक परीक्षा को ही लें। इसमें उदारतापूर्वक नम्बर 'देने' का बड़ा महत्व है। विद्यार्थियों को सरल-से-सरल प्रयोग करने को दीजिए, नंबर देने के दिशा निर्देशों का पालन न करते हुए नंबर 'बांट दीजिए'। नतीजतन अधिकतर विद्यार्थी प्रायोगिक परीक्षा में 'काफी अच्छा' कर लेते हैं। वे खुश होते हैं कि उन्हें अच्छे नम्बर मिल गए हैं और शिक्षक खुश होते हैं

कि उन्होंने अच्छे नंबर दिलाने में विद्यार्थियों की मदद की है। सबको यह यकीन होने लगता है कि विद्यार्थी उतना सीख पा रहे हैं जितना उन्हें सीखना चाहिए।

मूल्यांकन प्रणाली की हालत

यानी एक 'दोषपूर्ण मूल्यांकन पद्धति' बहुत कुछ सीख लेने के भ्रम को पुख्ता करती है। यह खतरनाक है क्योंकि इससे सीखने की चाह के दरवाज़े बंद होने लगते हैं। क्योंकि सीखने के लिए यह 'जानना' तो एक पूर्वशर्त है कि आप पर्याप्त नहीं जानते हैं। अगर आपने यही नहीं समझा तो यह आपके सीखने में एक गंभीर बाधा है। यकीन मानिए, हम में से अधिकतर लोग, विवेक से महरूम इस भ्रम में जीते हैं कि हम बहुत कुछ जानते हैं।

फिर ऐसे में विद्यार्थियों को एक और खतरनाक संकेत यह मिलता है कि उनका मुख्य लक्ष्य हर -एक परीक्षा में अच्छे नम्बर पाना है। अगर कभी उन्हें यह अहसास हो भी जाए कि वे दरअसल कुछ सीख नहीं रहे हैं, तब भी जब तक इसका बुरा असर उनके परीक्षा परिणामों पर नहीं पड़ रहा हो, तब तक उन्हें फिक्र करने की ज़रूरत नहीं लगती। इस तरह वे लगभग कभी भी कुछ न समझ पाने के कारण 'परेशान' नहीं होते। ऐसे बहुत ही कम विद्यार्थियों से मेरा सामना हुआ है जो बहुत कोशिश के बावजूद कोई टॉपिक, कोई विषय या कोई अवधारणा समझ न पाने के कारण चिंतित हों।

'क्या हम प्रदर्शन की इस अधपकी, अदूरगामी धारणा के मार्फत अपने छात्र-छात्राओं को गंभीर हानि नहीं पहुंचा रहे हैं?' 'क्या हम उनके बेहतर वैज्ञानिक, शोधकर्त्ता, शिक्षक आदि बनने के दरवाज़े बंद नहीं कर दे रहे हैं?' ये कुछ सवाल अक्सर मुझे घेर लेते हैं। इतनी सारी शंकाओं के होते हुए मैं शिक्षक होने के अपने कर्त्तव्य के बारे में अक्सर अपने आपको दुविधा में पाती हूं।

क्या मेरा शिक्षण परीक्षा परिणाम की ज़रूरतों के अनुसार होना चाहिए या फिर मुझे विषय की बेहतर समझ बनाने की कोशिशों पर ध्यान देना चाहिए? मेरे मन में दुविधा इसलिए है क्योंकि ये दोनों आपस में मेल नहीं खाते। आखिरकार विद्यार्थियों को एक ऐसी परीक्षा प्रणाली से गुज़रना होगा जिसे मैं नहीं बदल सकती। तो क्या मुझे विद्यार्थियों को सिर्फ जानकारी परोसनी चाहिए? या उनमें वैज्ञानिक मानसिकता, समस्याओं के हल ढूंढने और विश्लेषण करने की क्षमताओं का विकास करने की कोशिश करनी चाहिए? दूसरा विकल्प अपने आप ही उनमें जानकारी इकट्ठा करने और तार्किक निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए इन जानकारियों का उपयोग करने की

क्षमता को पनपाएगा। सवाल यह है कि क्या मुझे उन्हें इस भ्रम में रहने देना चाहिए कि वे सब कुछ समझ गए हैं या जान-बूझकर उन्हें यह एहसास दिलाना चाहिए कि वे काफी कुछ नहीं समझे हैं।

मैं दूसरे विकल्प को पसन्द करती हूं। यह विकल्प इस बात के बावजूद पसन्द है कि इससे मैं एक कम लोकप्रिय शिक्षक बन जाती हूं। ऐसा इसलिए क्योंकि यह विकल्प चुनकर मैं विद्यार्थियों को मौजूदा परीक्षा पद्धति के लिए तैयार नहीं करती।

मुझे उम्मीद है कि एक दिन मेरे विद्यार्थी इस बात को समझ पाएंगे कि मेरे मन में ज़्यादा व्यापक लक्ष्य थे।

शशि सक्सेना: दिल्ली स्थित दीनदयाल उपाध्याय कॉलेज में रसायनशास्त्र पढ़ाती हैं व विज्ञान शिक्षण को बेहतर बनाने से संबंधित विभिन्न प्रयासों से जुड़ी हुई हैं।
अंग्रेज़ी से अनुवाद: टुलटुल विश्वास। एकलव्य के प्रकाशन समूह से संबंद्ध।

श्रम का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन!!
ताकि सबको रोज़गार मिल सके।
चाइनिज सटायर एंड ह्यूमर से।